'पैदा हुई पुलिस तो इबलीस ने कहा लो आज हम भी साहिबे औलाद हो गये'

समीर

शैतान खुश हुआ कि पुत्र का जन्म हुआ! सन 1861 में भारतीय पुलिस के जन्म पर एक शायर ने कभी यह तुक मिलाया था। 1947 के पहले अंग्रेजी राज के पुलिस ने कितने लोगों को लठियाया होगा, संगीनें भोंकी होंगी, 'एनकाउंटर' किये होंगे "दो औंस की सीसे की गोली" न जाने कितने शहरों में, न जाने कितने जुलूसों-सभाओं में न जाने कितने शहरों में, न जाने कितने मनुष्यों के गर्म सीनों में मृत्यु बनकर प्रवेश करती रही होगी (संदर्भ: *(उदय प्रकाश की कविता – 'राज्यसत्ता')* आज इसका हिसाब लगाने की जरूरत नहीं। इतिहास से सबक तो तब निकाले जाते हैं, जब वर्तमान में उदाहरण नहीं मिलते। यहां तो पुलिस की शैतानी हरकतों की नयी-नयी मिसालें हर रोज सामने आती रहती हैं -- ऐसी मिसालें कि खुद इबलीस भी शायद शरमा जाये।

एक ताजा मिसाल देखिये। पिछले 18 अगस्त को फरीदाबाद से निकलने वाले एक दैनिक *मज़दूर मांचा* के सम्पादक सतीश कुमार को स्थानीय पुलिस अलस्सुबह घर से सिर्फ इसलिए उठा ले गयी कि उनके अखबार ने जिले के एस.पी. रणवीर शर्मा के भ्रष्टाचार को उजागर किया था। सतीश कुमार पर 'हरियाणा अरबन डेवलपमेंट अथारिटी' (हुडा) के एक अधिकारी को डरा-धमकाकर अपने अखबार के लिए विज्ञापन जुटाने व अखबार की गलत प्रसार संख्या दिखाने का आरोप लगाकर आई. पी.सी. की धाराएं 420, 396 आदि ठोंककर जेल के भीतर ठूंस दिया गया। गिरफ्तारी के बाद 'हुडा' के उक्त अधिकारी पर दबाव डालकर पुलिस से फर्जी एफ.आई.आर. लिखवायी गयी और इस तरह कानूनी औपचारिकताओं को पूरा कर लिया गया।

एस.पी. रणवीर शर्मा केन्द्रीय गृहमंत्री आई. डी. स्वामी के दामाद हैं। सो जाहिर है कि सरकार और न्यायपालिका भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पा रही है। हरियाणा, दिल्ली और देश भर के पत्रकारों, बुद्धिजीवियों और जनतांत्रिक अधिकार कर्मियों के विरोध के बावजूद अब तक न तो सतीश कुमार की रिहाई हुई है और न ही एस.पी. व अन्य पुलिसकर्मियों के खिलाफ कोई कार्रवाई ही हुई है। सेशन कोर्ट ने तो पहले ही जमानत की अर्जी खारिज कर दी थी और हरियाणा हाईकोर्ट ने तो न केवल अर्जी खारिज की वरन सुनवाई की अगली तारीख चार महीने बाद मुकर्रर की। यह रणवीर शर्मा की सत्ता तंत्र पर ही नहीं वरन न्यायपालिका पर भी पहुंच को साफ तौर पर दिखाता है। यूं भी क्या यह महज एक इत्तेफाक है कि सेशन कोर्ट और हाईकोर्ट के जिन जजों ने जमानत की अर्जी खारिज की वे सगे भाई हैं।

लेकिन पिछले दिनों केन्द्रीय गृहमंत्री लालकृष्ण आडवाणी द्वारा यह कहना कि आतंकवाद का मुकाबला करने में सुरक्षाकर्मियों द्वारा अगर अनजाने में मानवाधिकारों का उल्लंघन हो जाता है तो उन्हें राहत देने के लिए सरकार उचित क़ानून बनाएगी, एक खतरनाक संकेत है।

पाठकों को यह ब्यौरा पढ़कर प्रियदर्शनी भट्ट का केस भी जरूर याद आ रहा होगा। इस मामले में बलात्कारी को उच्च न्यायालय इसलिए सजा नहीं दे सका था क्योंकि वह भी एक बड़े पुलिस अफ़सर का बेटा था। मामले की एफ. आई.आर. इतनी होशियारी से लिखी गयी थी और गवाही-जिरह इस ढंग से हुई थी कि बेचारे जज को यहां तक कहना पड़ा था कि "मैं जानता हूं कि डी.आई.जी. का बेटा बलात्कारी है लेकिन उसे सजा दिलवाने के लिए सबूत काफी नहीं थे।"

पुलिस की इन कारस्तानियों के अनगिनत उदाहरण हैं जो बताते हैं कि आई.पी.सी.-सी. आर.पी.सी. के पन्नों को पुलिस चबाकर निगल जाती है, थूकती भी नहीं। पुलिस मैनुअल, सुप्रीम कोर्ट और मानवाधिकार आयोग की हिदायतों को पुलिस किस नजरिये से देखती है, इसे जानना हो तो जरा किसी थानेदार से इसकी चर्चा करके देखिये।

फिर भी पुलिस के उच्चाधिकारी, सुप्रीम कोर्ट और मानवाधिकार आयोग समय-समय पर जनता के साथ संवेदनशील व्यवहार करने और मानवाधिकारों की कद्र करने सम्बन्धी हिदायतें जारी करते रहते हैं। अगर हिदायतों से पुलिस का आचरण सुधरना होता तो इसके लिए पुलिस की आचार संहिता ही काफी थी जो संस्कृत नीतिशास्त्र के नीतिवचनों को भी मात देती है। कुछ नमूने देखिए। पुलिस आचार संहिता का सूत्र 10 कहता है: *"सौजन्यता हृदय से शिष्टता, विश्वसनीयता तथा नितान्त निष्पक्षता पुलिस जनों के विशेष आभूषण होंगे"।* और सूत्र-4 कहता है: *"कानून का पालन कराने अथवा व्यवस्था बनाये रखने के काम में, जहां तक बन पड़े, पुलिस को समझाने-बुझाने और सलाह देने का काम करना चाहिए"।* जब अपने जन्म के समय से ही चले आ रहे इन नीतिवचनों से पुलिस अब तक नहीं सुधरी तो नयी-नयी हिदायतें भला क्या असर डालेंगी। हम भी जानते हैं आप भी जानते हैं। पर 'जान के भी वो कुछ भी न जानें, हैं कितने अनजाने लोग!'

इसका कारण स्पष्ट है। पुलिस का एक आम सिपाही भी यह जानता है कि पुलिस के घोषित और अघोषित उद्देश्यों में कितना फर्क है। उसे समाज के आम लोगों की हिफाजत नहीं विशिष्ट जनों की हिफाजत करनी है। विशिष्ट जनों में भी जब जिस समूह की सत्तातंत्र पर जितनी पकड़ होती है उसकी हिफाजत उतनी मुस्तैदी से करनी होती है। साधारण जनों के कोप से विशिष्ट जनों के नन्दन-कानन को बचाना पुलिस का पुनीत कर्तव्य है – चाहे जैसे, लाठी-गोली, जेल-कोड़े-फांसी – हर मुमकिन तरीकों से। इस कर्तव्य को निभाने के बदले अगर कानून से इतर जाकर वह कुछ करती है, तो उस पर आंखें मूंद ली जाती हैं।

क़ानून से इतर कुछ भी करने पर एनकाउंटर करने पर, हिरासत में यातना देकर मार डालने पर, थर्ड डिग्री का इस्तेमाल करने पर, थानों में बलात्कार पर, जनतांत्रिक अधिकारों को बूटों के नीचे दबा देने पर – पहले ही पुलिस को अलिखित अभयदान मिला हुआ था। **लेकिन पिछले दिनों केन्द्रीय गृहमंत्री लालकृष्ण आडवाणी द्वारा यह कहना कि आतंकवाद**

का मुकाबला करने में सुरक्षाकर्मियों द्वारा अगर अनजाने में मानवाधिकारों का उल्लंघन हो जाता है तो उन्हें राहत देने के लिए सरकार उचित क़ानून बनाएगी, एक खतरनाक संकेत है। यह बात उन्होंने पिछले पांच सितम्बर को विभिन्न राज्यों के पुलिस महानिदेशकों और महानिरीक्षकों के सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा था। आडवाणी ने तो पंजाब में आतंकवाद को कुचलने के नाम पर पुलिस व सुरक्षाबलों द्वारा मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वाले पुलिसजनों पर चल रहे मुकदमों को उठा लेने व उन्हें आम माफी देने तक की बात कह डाली थी। लेकिन इस बयान पर हुई आलोचनाओं के बाद वह इससे मुकर गये कि उन्होंने ऐसी कोई बात कही थी।

आडवाणी के इस खुले अभयदान से पंजाब के भूतपूर्व पुलिस महानिदेशक के.पी.एस.गिल सरीखे लोगों को मनचाही मुराद मिल गयी। गिल उन पुलिस अधिकारियों में से हैं जो पुलिस, अर्द्धसैनिक बलों व सेना द्वारा आतंकवाद को कुचलने के नाम पर बर्बर अत्याचारों के खिलाफ आवाज़ उठाने वाले मानवाधिकार संगठनों को अक्सर खरी-खोटी सुनाते रहते हैं। वह अक्सर इस पर अफसोस जाहिर करते रहते हैं कि अपराधियों को सजा दिलाने के लिए नाहक लम्बी प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। पुलिस को ही वे न्याय की कुर्सी पर बिठा देने की वकालत के जोश और कानून से हाथ बंधे होने की कसमसाहट में एक बार उन्होंने यहां तक कह डाला था कि *'इस नामर्द देश में पैदा क्यूं कर दिया।'* आडवाणी अगर 'अनजाने ही मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वाले सुरक्षाकर्मियों को राहत दिलाने के लिए उचित कानून' बनवाने में सफल रहे तो के.पी.एस. गिल जैसों को अपनी मर्दानगी दिखाने का भरपूर अवसर मिल जायेगा।

जाहिर है कि इबलीस की औलादों को राज्यसत्ता का भरपूर संरक्षण हासिल है। ऐसे में भला वे अपनी शैतानी हरकतों से क्यूंकर बाज आयेंगे। आने वाले समय में ये हरकतें और बेकाबू होती जायेंगी अगर देश में एक मजबूत जनतांत्रिक अधिकार आन्दोलन नहीं संगठित होगा। जनप्रतिरोध के अलावा इबलीस की औलादों के कहर से बचने का कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

बोलते आंकड़े चीखती सच्चाइयां

देश में बुनियादी आर्थिक "सुधार" कार्यक्रमों को लागू होते एक दशक पूरा हो गया। एक दश पूर्व जुलाई, 1991 में तत्कालीन नरसिंह राव-मनमोहन सिंह की कांग्रेसी सरकार ने आम बजट के साथ "उदारीकृत" आर्थिक नीतियों का पहला खेप परोसी थी। तब से लेकर अब तक चुनावी वामपंथियों से लेकर लगभग सभी किस्म के रंग-रोगन वाली पार्टियां सत्ता में भागीदारी कर चुकी हैं – चाहे संयुक्त मोर्चा रहा हो अथवा राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन। क्या है इन "सुधारों" की सच्चाई, देखते हैं कुछ आंकड़ो की जुबानी –

* भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा 31 मार्च 1999 को प्रस्तुत सर्वे रिपोर्ट के अनुसार आर्थिक उदारीकरण लागू होने के बाद देश में 3,06,221 लघु उद्योग और 2,363 निजी मझोले और बड़े उद्योग बंद हो चुके थे। उदारीकरण के दस वर्ष पूरा होते-होते (यानी 2001 में) बंद छोटे-बड़े उद्योगों की संख्या लगभग चार लाख तक पहुंच चुकी है और चार करोड़ से ज्यादा लोगों की नौकरियां छीनी जा चुकी हैं। उदारीकरण के बाद बीमार उद्योगों की संख्या डेढ़ गुने से ऊपर पहुंच चुकी है।

* आर्थिक सर्वेक्षण 2001 के अनुसार 1997 के मुकाबले 2000-2001 तक एक लाख चौवालिस हजार सरकारी नौकरियों और पचास हजार निजी क्षेत्र की नौकरियों में कटौती की जा चुकी है। 1980 में वार्षिक रोजगार वृद्धि दो प्रतिशत थी जो 90 के दशक में महज 0.98 प्रतिशत रह गयी।

* विगत दस वर्षों के दौरान देश में बेरोजगारों की संख्या में दूने की वृद्धि हो चुकी है और इसमें वृद्धि लगातार जारी है। बेरोजगारों की एक बड़ी आबादी रोजगार कार्यालयों से नाउम्मीद हो चुकी है और वह वहां अपना पंजीकरण नहीं करवाती है। फिर भी जितने लोगों ने वहां पंजीकरण करवाया उनके मुकाबले मिलने वाले रोजगार का प्रतिशत भी गौरतलब है। 1989-90 से 1998-99 के बीच पंजीकरण करवाने वालों की संख्या में 22.56 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि रोजगार में महज 6.68 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। 1990 में रोजगार कार्यालयों में 3 करोड़ 28 लाख नये लोगों ने पंजीकरण करवाये जिनमें से 2 करोड़ 64 लाख लोगों को रोजगार मिला था जबकि 1999 में 4 करोड़ 2लाख नये पंजीकृत बेरोजगारों में से महज 2 करोड़ 81 लाख लोगों को नौकरियां मिल पायी थीं।

* 1995-96 से 1998-99 के बीच भविष्य निधि योजना से 60 लाख 84 हजार लोगों ने नाता तोड़ लिया है, जिसकी मूल वजह लोगों को नौकरियों से हाथ धोना है।

* 1990-91 में एक डालर का मूल्य 19 रुपये 64 पैसे था जो 1991-92 में दो बार किये गये रुपये के अवमूल्यन के बाद छलांग लगाकर 31 रुपये 23 पैसे के भाव पहुंच गया। वित्त मंत्रालय और भारतीय रिजर्व बैंक की लाख मशक्कतों और वित्तीय समायोजन के बावजूद इस वक्त (30 अप्रैल, 2001) एक डालर की कीमत 46 रुपये 86 पैसे है और किसी भी वक्त यह 50 रुपये से ऊपर पहुंच सकती है।

* 1991 से 2000 के बीच भारत पर विदेशी कर्ज का बोझ 1,63,0012 करोड़ रुपये से बढ़कर 4,29,271 करोड़ रुपये हो गया। आज यह 5 लाख करोड़ रुपये के करीब पहुंच रहा है। आज देश में पैदा होने वाला हर बच्चा दस हजार रुपये कर्ज का बोझ लेकर पैदा हो रहा है।

* विगत दस वर्षों के दौरान जहां नीचे की 70 फीसदी आबादी लगातार जिल्लत और बदहाली की ज़िन्दगी जीने के लिये अभिशप्त होती गयी है लगभग 40 फीसदी आबादी गरीबी रेखा के नीचे जी रही है वहीं बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था और काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था के कारण ऊपर की 20 फीसदी आबादी के सुख-समृद्धि और ऐशों आराम की ज़िन्दगी (यानी जीवन स्तर) छलांग लगाकर काफी ऊपर चली गयी है। उदारीकरण का लाभ इसी आबादी को मिला है। एक रिपोर्ट के अनुसार 1991 से 1999 के बीच बहुराष्ट्रीय कम्पनी डल-ब्रिटिश यूनीलीवर की भारतीय शाखा हिन्दुस्तान लीवर की आय 1800 करोड़ से बढ़कर 11,400 करोड़ हो गयी, जबकि इसी अवधि में देशी पूंजीपति रिलायंस उद्योग समूह का कारोबार 2,954 करोड़ रुपये से बढ़कर 21,562 करोड़ रुपये तक पहुंच गया।